भारतीय ज्ञान धरोहर

विमर्श और परंपरा

सम्पादक

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय ज्ञान धरोहर

विमर्श और परम्परा

सम्पादक

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

छवि पब्लिकेशन्स

अजमेर-305001

प्रकाशक :
छवि पब्लिकेशन्स
अजमेर-305001
मो. 9660111549

संस्करण :
प्रथम 2023

ISBN : 978 - 81 - 89435 - 69 - 1

मूल्य - 400/-

रचना - भारतीय ज्ञान धरोहर : विमर्श और परम्परा

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

मुद्रक - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

22

भारतीय ज्ञान परम्परा और संगीत शास्त्र

सीमा शर्मा
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

भारतीय संगीत परम्परा की जड़ें अत्यन्त प्राचीन वैदिक युग में मिलती हैं। संगीत का प्रथम एवं मुख्य स्रोत वेद माने गए हैं, जिनमें सामवेद को विशेष रूप से संगीत का मूलाधार और प्रतिपादक ग्रन्थ कहा गया है। सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद संगीत के व्यवस्थित सिद्धान्तों और कलात्मक परम्पराओं का सूत्रपात करता है।

वेदों में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित—इन तीनों स्वर-प्रकारों का उल्लेख मिलता है जो आगे चलकर भारतीय स्वरतंत्र की नींव बने। यज्ञों और धार्मिक अनुष्ठानों में मंत्रों का गायन 'सामगान' के रूप में किया जाता था। इन गायकों को 'तालवकार' या संगीत निर्माताओं की संज्ञा दी जाती थी। 'समन' शब्द संगीत के अर्थ में प्रयुक्त होता था, जो आगे चलकर 'समज्जा' नाम से भी जाना गया।

वैदिक समाज में कला और कलाकारों का सम्मानित स्थान था। संगीत केवल मनोरंजन का साधन नहीं था, बल्कि धर्म, अध्यात्म, संस्कृति, और आत्मिक उन्नति का माध्यम माना जाता था। विवाह, यज्ञ, दान, संस्कार आदि लगभग सभी धार्मिक क्रियाओं में नृत्य और संगीत का प्रयोग होता था। समय के साथ यह परम्परा आगे बढ़ी और संगीत एक व्यवस्थित तथा आंशिक रूप से व्यावसायिक विधा भी बन गया।

प्राचीन साहित्य—अष्टाध्यायी, रामायण, महाभारत आदि—में संगीत परम्पराओं का समृद्ध और स्पष्ट वर्णन मिलता है। वाल्मीकि रामायण में नाट्य, नृत्य, गायन और अभिनय की परम्पराएँ दिखाई देती हैं। सुग्रीव के प्रसंग में 'गान्धर्व' शब्द तथा वीणा-वादन का उल्लेख बताता है कि उस समय संगीत एक सुसंगठित और उच्च विकसित कला थी।

महाभारत के युग में संगीत, नृत्य और वाद्य कलाओं का अत्यंत विकसित स्वरूप देखने को मिलता है। ग्रंथ में अनेक प्रसंगों—नारद को शंकर से प्राप्त गायन-वादन का वरदान, अर्जुन द्वारा विराट नरेश की पुत्री उत्तरा को संगीत-शिक्षा देना से

स्पष्ट होता है कि संगीत उस समय शिक्षा और संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग बन चुका था। महाभारत में संगीत केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का प्रमुख माध्यम था।

छठी शताब्दी में वैशाली की नगरवधू परम्परा में नृत्य, गायन और वाद्य का विस्तृत और उच्च कोटि का वर्णन मिलता है, जो उस समय की उन्नत कलाओं का प्रमाण है। बौद्ध परम्पराओं में भी किन्नर, मुक्षिणियाँ तथा अन्य कलाकार गायन, वादन और नृत्य की सिद्ध हस्त मानी गई हैं। त्रिपिटकों में 'गन्धर्व' और 'शिल्प' शब्द संगीत एवं कलाओं के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

बौद्ध धर्म में संगीत आध्यात्मिक और सांस्कृतिक दोनों रूपों में महत्त्वपूर्ण था—बुद्ध पूजा, बुद्ध से संबंधित गाथाएँ, अस्थि-पूजा आदि अवसरों पर संगीत का विशेष प्रयोग होता था। बुद्ध के निर्वाण उपरान्त भी कुशीनारा के मल्लों द्वारा कई दिनों तक संगीत प्रस्तुत किया जाना इस परम्परा की गहराई को दर्शाता है।

कला का यह प्रभाव केवल ग्रंथों तक सीमित नहीं रहा—भरहुत और साँची के स्तूपों में न केवल बुद्ध के जीवन की घटनाओं का चित्रण है, बल्कि संगीत, नृत्य और वादन के दृश्य भी स्पष्ट रूप से उकेरे गए हैं। साँची के एक चित्र में नागराजा और नागरियों का दृश्य मिलता है, जहाँ कुछ स्त्रियाँ भोजन-सत्कार में लगी हैं जबकि अन्य नृत्य-गान और वेणु-वादन में रत हैं—यह दर्शाता है कि लोक और देव-परम्परा दोनों में संगीत अत्यन्त समृद्ध था।

अश्वघोष ने बौद्ध संदेश को आम जन तक पहुँचाने के लिए संगीत को महत्वपूर्ण माध्यम बनाया। वे गायकों और वादकों की टोलियाँ तैयार करके विभिन्न प्रदेशों में भ्रमण करते थे। इन टोलियों द्वारा गीत, वादन और मधुर लयों के सहारे बौद्ध तत्व-ज्ञान लोगों तक पहुँचाया जाता था, जिससे श्रोताओं के मन में सहज रूप से श्रद्धा, समरसता और आध्यात्मिक भाव जागृत होते थे। इससे यह स्पष्ट है कि संगीत को उस समय शिक्षा, प्रचार और सामाजिक समरसता का प्रभावी साधन माना जाता था।

बौद्धकाल में संगीत का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अधिक विस्तार हुआ। उसे 'शिल्पज्ञान' जितना ही महत्वपूर्ण माना गया, क्योंकि संगीत को आंतरिक विकास, सौंदर्यबोध और आध्यात्मिक जागरण का माध्यम समझा जाता था। यह काल संगीत के उत्कर्ष और उसकी व्यवस्थित परम्पराओं के उभरने का सशक्त प्रमाण है।

जैन परम्परा में भी संगीत और काव्य केवल मनोरंजन के लिए नहीं थे, बल्कि भक्ति, आत्मशुद्धि और आध्यात्मिक उन्नति के साधन माने जाते थे। जैन धर्मावलम्बी विभिन्न मांगलिक अवसरों—पूजा, र्चतना, कल्याणक, पर्वों पर गायन और वादन का

आयोजन करते थे, जिससे धार्मिक वातावरण में भावनात्मक और सौन्दर्यमय ऊँचाई आती थी।

जैन धर्म के विकास काल में अनेक वाद्ययंत्र जैसे—वीणा की विभिन्न प्रकारें विपंची, वल्लकी, महती, नकुली, कच्छप लोकप्रिय हुए। इनके साथ मृदंग, दुन्दुभि और ढप जैसे तालवाद्यों का भी व्यापक उपयोग मिलता है। जैन समाज में संगीत को अत्यन्त सम्मान प्राप्त था और राज्य स्तर पर संगीत प्रतियोगिताओं का आयोजित होना इसका प्रमाण है। सार्वजनिक स्थलों पर नृत्य-आयोजनों में श्रेष्ठ परिवारों की कन्याओं की भागीदारी और उन्हें राजा के समान मान-सम्मान दिया जाना बताता है कि संगीत सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक था।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में संगीत, नृत्य, राग-रागिनियों तथा कलाओं की विस्तृत और व्यवस्थित जानकारी मिलती है, जो प्राचीन भारतीय संगीत-शास्त्र की आधारशिला है। मौर्यकाल में चाणक्य ने अर्थशास्त्र में राजनीति को संगीत और कलाओं से जोड़ा, जिससे स्पष्ट होता है कि संगीत सामाजिक जीवन के साथ-साथ शासन-व्यवस्था में भी महत्त्व रखता था। इस काल के कलाकार 'कुशीलव' कहलाते थे और उनकी अवमानना करने पर कठोर दण्ड मिलता था, जो यह दर्शाता है कि कलाकारों का सामाजिक सम्मान अत्यंत ऊँचा था।

मौर्य काल में वाद्ययंत्रों में कोई नया आविष्कार नहीं हुआ, लेकिन वीणा, वेणु और मृदंग प्रमुख वाद्य के रूप में प्रतिष्ठित रहे। अशोक के समय संगीत का उपयोग विशेष रूप से धर्म-प्रचार के लिए होने लगा। बौद्ध संघों, यात्राओं और मिशनों के माध्यम से भारतीय संगीत गान्धार, कम्बोज, लंका, तिब्बत, चीन, मिस्र आदि देशों तक फैल गया। बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ भारतीय संगीत भी अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित हुआ।

कुषाण काल में संगीत का प्रसार और प्रभाव दोनों अत्यंत व्यापक थे। अश्वघोष, जो एक महान बौद्ध विद्वान होते हुए भी अद्वितीय संगीतज्ञ थे, उन्होंने संगीतज्ञों की टोली बनाकर सम्पूर्ण भारत में भ्रमण किया। उनके प्रयासों से संगीत न केवल धार्मिक प्रचार का माध्यम रहा, बल्कि सामाजिक मनोरंजन का प्रमुख साधन भी बन गया। इस समय नृत्यगृह, नृत्यशालाएँ और मनोरंजन के सार्वजनिक स्थल विकसित हुए, जहाँ समय-समय पर समारोह, प्रस्तुतियाँ और उत्सव आयोजित किए जाते थे। संगीत का उपयोग युद्ध-प्रस्थान, मृत्यु-क्रिया, धार्मिक अनुष्ठान, भक्ति तथा दैनिक आनंद—सभी अवसरों पर समान रूप से होता था। गान्धर्व मूर्तिकला में नृत्य-मण्डली और पद-लय के चित्रण से यह स्पष्ट होता है कि नृत्य और संगीत दोनों ही कला के रूप

में अत्यंत उन्नत थे।

गुप्तकाल में संगीत का 'स्वर्णयुग' माना जाता है। इस काल में संगीत को शास्त्रीय रूप देने की प्रक्रिया बेहद परिपक्व हुई। कालिदास ने अपनी रचनाओं में ताल, लय, स्वर, उपगान, मूर्च्छना जैसे अनेक तकनीकी शब्दों का प्रयोग किया, जिससे उनकी संगीत-विद्या की गहरी समझ का पता चलता है। कई स्थानों पर 'राग' का उल्लेख भी मिलता है, जो बताता है कि राग-संगीत उस समय तक विकसित हो चुका था।

वराहमिहिर की बृहत्संहिता गुप्तकालीन संगीत-परम्परा का एक महत्वपूर्ण प्रमाण है। वे गायन, वादन और उन कलाकारों के गुणों का वर्णन करते हैं जो इन कलाओं में निपुण थे। वह उस समय के प्रमुख वाद्य—'बीन', 'वीणा', 'मृदंग' का उल्लेख करते हैं और बताते हैं कि धार्मिक समारोहों में संगीत का विशिष्ट स्थान था। युद्ध के समय सैनिकों के साथ चलने वाला संगीत-बैण्ड भी इस बात का प्रमाण है कि संगीत सामाजिक-राजनीतिक जीवन का अनिवार्य अंग बन चुका था। उन्होंने स्वर, ग्राम और संगीत-शास्त्र के विभिन्न पक्षों की चर्चा करके संगीत के वैज्ञानिक स्वरूप को भी स्पष्ट किया।

समुद्रगुप्त न केवल एक पराक्रमी सम्राट था, बल्कि एक उत्कृष्ट वीणा-वादक भी था। उसके सिक्कों पर वीणा-वादन के चित्र उसकी संगीत-निपुणता के स्पष्ट प्रमाण हैं। प्रयाग प्रशस्ति में कवि हरिषेण ने लिखा है कि समुद्रगुप्त की संगीत-विद्या इतनी अद्‌भुत थी कि उसने नारद और तुम्बरू जैसे दिव्य संगीतज्ञों को भी आश्चर्यचकित कर दिया। इससे गुप्तकालीन संगीत की ऊँचाई और शाही अभिरुचि का पता चलता है।

इस युग में संगीत मात्र राजदरबार तक सीमित नहीं था, बल्कि जनसामान्य का प्रमुख मनोरंजन साधन था। नगर सदा संगीत-ध्वनियों से गूँजते रहते थे। नगरों में संगीत शिक्षा के लिए संगीत शाखाएँ (म्यूजिक स्कूल) विद्यमान थीं, जहाँ संगीताचार्य लड़के-लड़कियों को गायन, वादन और नृत्य की शिक्षा देते थे। इससे स्पष्ट होता है कि संगीत एक संगठित, व्यवस्थित और सामाजिक रूप से सम्मानित कला थी।

वात्स्यायन के कामसूत्र में उल्लिखित 64 कलाओं में नृत्य, गीत, वादन, ताल-लय, अभिनय, वेशभूषा, रस-ज्ञान आदि कलाएँ शामिल हैं, जो यह दर्शाती हैं कि गुप्तकाल में कला-संस्कृति का जीवन अत्यंत परिष्कृत था। नागरिक नृत्य-गान के सार्वजनिक समारोहों में भाग लेते थे तथा साहित्य, संगीत और कला पर विचार-विमर्श समाज के मुख्य बौद्धिक आनंदों में से एक था।

इस काल के वाद्ययंत्रों में विविधता दिखाई देती है। 'वीणा' के अतिरिक्त 'वल्लकी', 'परिवादिनी', 'तन्त्री', 'गीचक', 'शंख', 'तूर्य', 'मुरज', 'पुष्कर', 'मृदंग', 'दुन्दुभि' आदि वाद्य प्रयोग में थे। 'शंख' और 'तूर्य' मांगलिक अवसरों और युद्ध के समय उपयोग में आते थे, जबकि 'वेणु' लोकसंगीत और जनरंजन का प्रिय वाद्य था।

अजन्ता की गुफाओं में विभिन्न वाद्यों का सुंदर अंकन मिलता है, जो न केवल संगीत की समृद्ध परम्परा को दर्शाता है, बल्कि उस समय के वाद्य-वादन और नृत्य संस्कृति का दृश्य प्रमाण भी देता है। भूमरा के शिव मंदिर के शिल्पों में शिवगणों द्वारा विविध वाद्य बजाते हुए मूर्तियाँ अंकित हैं, जो यह दर्शाती हैं कि संगीत दैवी और सांसारिक—दोनों स्तरों पर समान रूप से महत्त्वपूर्ण था।

'मालविकाग्निमित्रम्' में नृत्य-प्रतियोगिताओं और नगर-कुबेर जैसे सार्वजनिक मनोरंजन स्थलों का उल्लेख यह दर्शाता है कि उस समय संगीत और नृत्य समाज के सांस्कृतिक उत्सवों का प्रमुख अंग थे। कालिदास के मेघदूत में नर्तकियों द्वारा 'चामर-नृत्य' का उल्लेख मिलता है, जिससे नृत्य-कला की विविधता और परिष्करण का पता चलता है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य स्वयं संगीत-मर्मज्ञ था। उसके दरबार में शूद्रक, भास, विशाखादत्त, भारवि जैसे विद्वान और नाट्य-कला के प्रतिनिधि विद्यमान थे। इनके नाटकों में संगीत की प्रमुख भूमिका रही, जिससे ज्ञात होता है कि उस समय नाट्य-संगीत एक संगठित और उच्च कोटि की कला थी।

हर्षवर्धन कला और साहित्य का महान संरक्षक था। वह स्वयं संगीत समारोहों का आयोजन करता था। बाणभट्ट के अनुसार हर्ष निरंतर वीणा हाथ में लिए रहता था, इसलिए उसे 'संगीत-भवन' की उपाधि भी दी गई। यह उपाधि इस बात का प्रमाण है कि संगीत उसकी व्यक्तित्व-सत्ता का मूल अंग था।

इस काल में वीणा के साथ मृदंग, वेणु, मुरज आदि वाद्यों का व्यापक प्रयोग होता था। राजकुमारियों को भी संगीत-नृत्य की शिक्षा दी जाती थी, जिसका उदाहरण राज्यश्री की शिक्षा-व्यवस्था से मिलता है। चन्द्रापीड के मनोरंजन हेतु कादम्बरी में वीणावादक तथा वंशीवादक दक्ष कन्याओं को भेजे जाने का उल्लेख कला-कौशल की परम्परा का प्रमाण है।

नाटकों के माध्यम से संगीत का प्रचार सर्वाधिक हुआ—नृत्य, अभिनय, गायन, वादन—ये सब नाट्य-मंचन का अभिन्न भाग बन गए। इसी युग में संगीत का एक स्वतन्त्र और परिपक्व स्वरूप विकसित होता दिखाई देता है।

राजपूत काल में संगीत का स्वरूप बहुत विकसित और समृद्ध दिखाई देता है।

इस समय राग-रागिनियों का उल्लेख स्पष्ट मिलता है तथा तबला, सारंगी जैसे वाद्य प्रचलन में थे। भरतमुनि के अनुसार छह प्रमुख राग—भैरव, कौशिक, हिंडोल, दीपक, श्रीराग और मेघ महत्वपूर्ण माने गए। भारतीय संगीतज्ञ तत्काल रचना करने में दक्ष थे, परंतु स्वरलिपि के विकास का अभाव होने से प्राचीन संगीत की अनेक विधाएँ संरक्षित नहीं रह सकीं।

साहित्य व संगीत का घनिष्ठ संबंध भी इसी काल में दृष्टिगोचर होता है। जयदेव के गीतगोविंद, राजशेखर के कर्पूरमंजरी, कृष्णमित्र के प्रबोधचंद्रोदय, कल्हण के राजतरंगिणी और विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा में संगीत की प्रमुखता दिखाई देती है। मेवाड़ के महाराणा कुम्भा ने विद्यारत्नकोष और संगीतराज जैसी महत्वपूर्ण कृतियाँ लिखीं। वे स्वयं महान संगीतकार थे और उनकी पुत्री रमा भी उत्कृष्ट संगीतज्ञ मानी जाती थीं।

भक्ति आन्दोलन के काल में भारतीय संगीत को एक अत्यन्त प्रभावशाली और जनसामान्य से जुड़ी हुई दिशा प्राप्त हुई। इस समय संगीत केवल कलात्मक साधना न रहकर लोगों की भावनाओं, आस्था, प्रेम और भक्ति को व्यक्त करने का एक सहज माध्यम बन गया। विभिन्न संतों, कवियों और भक्तों ने संगीत को आध्यात्मिक अनुभवों से जोड़ते हुए उसे समाज के हर वर्ग तक पहुँचाया।

बंगाल के चैतन्य महाप्रभु ने सामूहिक भजन-कीर्तन की परंपरा को जीवंत बनाया। उनके कीर्तन सिर्फ धार्मिक आयोजन नहीं थे, बल्कि उनमें संगीत की एक ऐसी माधुर्यमयी शक्ति थी जो लोगों के हृदय में प्रेम, करुणा और भक्ति की भावना जगाती थी। चण्डीदास ने राधा-कृष्ण के प्रेम और भक्ति को गीतों के माध्यम से अभिव्यक्त किया, जिससे संगीत का भावनात्मक पक्ष और अधिक समृद्ध हुआ।

असम के शंकरदेव ने संगीत, नृत्य और नाटक को एक सूत्र में पिरोकर भक्ति-साधना का माध्यम बनाया। उनके 'कीर्तनघोषा' और 'अंकिया नाट' ने संगीत की सांस्कृतिक जड़ों को और गहरा किया। कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में भैरवी, टोडी, गौरी, करनट, केदार, यामन, सारंग, मेघराग, धनसारी, पूर्वी, दुखारी और दियाक जैसी 12 संगीत शैलियों का उल्लेख किया, जिससे यह सिद्ध होता है कि उस समय संगीत अत्यंत विविधतापूर्ण और परिपक्व रूप ले चुका था।

भक्ति काल के प्रमुख कवियों—बुल्लेशाह, गुरु नानक, तुलसीदास, सूरदास, मीराबाई, रैदास, कबीर, चरणदास, सहजोबाई, रमाबाई, रज्जब, मलूकदास, तथा वल्लभ सम्प्रदाय के अष्टछाप कवियों और महाराष्ट्र के नामदेव, तुकाराम ने अपने पदों, भजनों और दोहों के माध्यम से भक्ति-संगीत को नई ऊँचाइयाँ प्रदान कीं। उनके गीत गहरे

आध्यात्मिक अनुभवों से भरे थे और सरल भाषा में होने के कारण जनमानस में अत्यधिक लोकप्रिय हुए।

भारतीय परम्परा में संगीत की उत्पत्ति को 'ब्रह्म' की दिव्य शक्ति माना गया है। महादेव को संगीत का सर्जक और नटराज के रूप में नृत्य का आधार माना गया। संगीत यहाँ प्राकृतिक अवस्थाओं—ऋतु, दिन-रात के समय और मनोभावों से जुड़ा हुआ था।

राग-काल व्यवस्था के अनुसार— प्रातःकाल में भैरव, रात्रि के अंतिम प्रहर में मालकोस, सायंकाल में श्रीराग और रात के प्रथम प्रहर में दीपक, इन रागों का गायन निर्धारित था।

इस प्रकार संगीत का उद्देश्य केवल मनोरंजन न होकर मन के विभिन्न भावों को जगाना और वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करना था।

निष्कर्षतः सल्तनत काल में भी भारतीय संगीत अपनी पुरानी परंपराओं को बनाए रखते हुए निरंतर गतिशील और समृद्ध होता रहा। इस काल में मूर्छना पद्धति के आधार पर 'जाति गायन' से नई-नई लोकधुनें विकसित की गईं, जिससे संगीत का लोकजीवन से संबंध और गहरा हुआ। इसी समय संगीत के सैद्धांतिक पक्ष को भी विशेष महत्व मिला। संगीताचार्य सोमनाथ द्वारा रचित 'रागविबोध' इस युग की एक उत्कृष्ट रचना है, जिसमें उन्होंने संगीत की बारीकियों—स्वर, श्रुति, राग, लय आदि का गहन और तात्विक विवेचन प्रस्तुत किया। भारतीय संगीत का आधार सात स्वर—षडज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद—तथा बाईस श्रुतियाँ हैं, जिनके सही उपयोग से ही राग की सुंदरता और रंजकता उभरती है।

टोड़ी और मुल्तानी रागों में गंधार स्वर की सूक्ष्म श्रुति भिन्नता, तथा रागश्री और पूरिया में ऋषभ की श्रुति का अंतर, इन रागों को अपना विशिष्ट भाव और रंग प्रदान करता है। इससे स्पष्ट होता है कि श्रुतियों की सूक्ष्मता भारतीय संगीत की आत्मा है तथा उनका सही प्रयोग ही संगीत की पूर्णता और माधुर्य को सुनिश्चित करता है।

अतः सल्तनत काल में भी भारतीय संगीत न केवल संरक्षित रहा, बल्कि सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों स्तरों पर अपनी विशेष पहचान बनाए रखते हुए समृद्ध होता गया।

❖❖❖